

हरिद्वार में 'सोऽहं' का त्याग

सन्त कोकिलजी एक बार दो-तीन सेवकों के साथ हरिद्वार गये । हरिद्वार ज्ञानभूमि है । वहाँ के पहाड़, जंगल, गंगाजी का जल सभी चित्त को शान्ति देने वाले हैं । हरिद्वार के दर्शन से गंगास्नान से श्रीस्वामीजी को बड़ा आनन्द हुआ । श्रीस्वामीजी के साथ थले के महात्मा श्रीटहेल्यारामजी साहब थे । उनका श्री-स्वामीजी में सद्गुरु का भाव था; परन्तु श्रीस्वामीजी उन्हें अपना सखा ही मानते थे । श्रीस्वामीजी पर उनकी अतिशय श्रद्धा एवं प्रीति थी । एक दिन गंगास्नान करने के अनन्तर टहेल्यारामजी ने कहा--“श्रीस्वामीजी, तीर्थ स्थान में आकर सब लोग कुछ-न-कुछ छोड़ते हैं । हम भी यहाँ कुछ-न-कुछ त्याग करें ।”

श्रीस्वामीजी ने कहा--“पहले तुम छोड़ो तो फिर मैं भी छोड़ूँगा ।”

टहेल्यारामजी बोले--“आज से मैं ईश्वर कृपा से प्रतिज्ञा करता हूँ कि झूठ कभी नहीं बोलूँगा ।”

श्रीस्वामीजी--“अच्छा मैं अब आज से अभेदवाद की चर्चा छोड़ता हूँ ।”

फिर टहेल्यारामजी बोले--“आप पहले कह देते तो मैं

भी यही छोड़ता ।”

श्रीस्वामीजी घूमते फिरते कनखल आये । सेवकों से भगवत्सम्बन्धी बातचीत होती रही । एक सेवक ने कहा-
“श्रीस्वामी ! आज तो ध्यान-स्मरण बिलकुल नहीं हुआ । हरि की पौड़ी का दृश्य दिल-दिमाग में भर गया है । आँख बन्द करो तो वही दिखता है । अब मैं कल से वहाँ नहीं जाऊँगा ।”

श्रीस्वामीजी बोले-“निर्मल अन्तःकरण भी दो तरह के होते हैं-एक स्फटिक के समान और दूसरा हीरे के समान । दोनों ही स्वच्छ और प्रकाशित होते हैं, परन्तु एक बाहर की परछाईं ग्रहण करता है और दूसरा नहीं । वह तो दूसरों पर अपनी किरणें डालता है । बाहर के संस्कारों की छाप न लेना ही हीरे का काम है । भक्त का हृदय हीरे का सा होना चाहिये, स्फटिक का सा नहीं । ताप से कोयला भी हीरा हो जाता है । भगवत्प्राप्ति के लिये चित्त में जितना ही ताप हो उतना ही वह शुद्ध, पक्व और ठोस बनता है । फिर किसी दूसरे के प्रतिबिम्ब उसमें नहीं पड़ते और उसकी भाव-रश्मियों का प्रकाश सबके ऊपर पड़ने लगता है ।